सरस्वती-पुत्रोंके प्रति !

: श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन :

बात काफी पुरानी है और यूँ है भी अत्यन्त साधारण। १९३७ में मैं लगभग अेक महीना चटगाँवमें रहा। शायद कुछ अधिक ही। सारा अर्सा मलेरियासे पीड़ित। अेक विहारसे कुछ स्वस्थ होकर दूसरे पासके विहारमें जाता। वहाँ जाकर फिर गिर पड़ता। सेवा-सुश्रूषाकी कहीं भी कमी न थी। अेक विहारमें तो अेक श्रमणने बहुत ही सेवा की।

अेक दिन मैंने कृतज्ञताभिभूत होकर कहा—

"श्रमण ! मैं तुम्हारा कुछ और तो प्रत्युपकार कर नहीं सकता। पढ़ना चाहो तो कुछ पढ़ा सकता हूँ। बोलो क्या पढ़ोगे ?"

"अंग्रेजी।"

मैं अुठ-बैठ न सकता था। लेटे-लेटे बिना पुस्तकके अंग्रेजी पढ़ानी आरम्भ की। 'आअी' और 'वी' दो शब्द सिखाये अर्थात् 'मैं' और 'हम'। जब तीसरा 'यू' अर्थात् 'तुम' याद कराना आरम्भ किया, तबतक वह 'आअी' और 'वी' मेंसे अेक भूल चुका था। मुझे अच्छी तरह याद है, अनेक बार प्रयत्न करनेपर भी मैं अपने अुस श्रमण-बन्धुको तीनों शब्द अेक साथ नहीं ही याद करा सका।

अिस समय जो बात विशेष रूपसे याद आ रही है, वह यही कि जिसके दिमागका यह हाल था कि अंग्रेजीके तीन शब्द भी अेक साथ न याद रख सके, वह भी 'अंग्रेजी' ही पढ़ना चाहता था !

अिधर कुछ महीने पहले 'जेतवन' जाना हुआ। वर्तमान बलरामपुर (जि. गोण्डा, अुत्तर-प्रदेश) के पास जेतवन ही वह जगह है जहाँ भगवान् बुद्धने अपने जीवनके ४५ वर्षावासोंमेंसे २५ वर्षावास बिताये थे। कभी जहाँ श्रावस्ती जैसा बड़ा नगर बसा था, वहाँ आज सहेट-महेट नामके दो ग्राम मात्र हैं। वहीं जेतवनके पवित्र खण्डहरोंमें मेरी अेक बर्मी भिक्षुसे भेंट हुअी। वयोवृद्ध अू. महिन्द महास्थविरकी साधनाके परिणामस्वरूप यहाँ अेक जेतवन-विहार स्थापित है। आप अिसीमें रह रहे थे।

पूछा—"यहाँ किस अुद्देश्यसे आये ?"

"अंग्रेजी पढ़ने।"

अितने दिनोंके बाद आज मैं बैठा यह सोच रहा हूँ कि 'जेतवन' के खण्डहरोंमें भी अंग्रेजी ही पढ़ने !

यहीं जिस धर्मोदय-विहारमें बैठा मैं ये चन्द सतरें लिख रहा हूँ, अेक भिक्षु हैं, जो 'नेवारी'में कविता करते हैं, कुछ तिब्बती और खासी नेपाली भी बोल लेते हैं, सामान्य हिन्दी भी समझ और बोल ही लेते हैं, किन्तु वे अपने ज्ञानको अत्यन्त अधूरा समझते हैं, क्योंकि अुन्हें 'अंग्रेजी' नहीं आती !

पिछले बाअीस वर्षसे परिचित अेक दूसरे भिक्षु हैं जो सिंहल बोलते हैं, बर्मी बोलते हैं, तिब्बती बोलते हैं, कुछ पालि तथा कुछ संस्कृत भी जानते हैं; अच्छी खासी हिन्दी लिखते-पढ़ते हैं, कुछ जापानी भी जानते हैं—तब भी अुन्हें अपनी शिक्षा अत्यन्त अधूरी लगती है, क्योंकि वे 'अंग्रेजी' पूरी नहीं जानते।

सच तो यह है किसीको भी कोअी भाषा पूरी नहीं आती, अुन्हें खास तौरपर, किन्तु चिन्ता 'अंग्रेजी' की ही है।

अभ्याससे मैं ब्रती हूँ राष्ट्रभाषाका, किन्तु आज-कल मुझे यहाँ पढ़ानी पड़ रही है 'अंग्रेजी' ही 'अंग्रेजी' !

अिसमें कुछ सन्देह नहीं कि अंग्रेजोंने भारतपर अंग्रेजी लादी, किन्तु लदी हुअी अंग्रेजी जो आसानीसे अुतर नहीं रही है और कहीं-कहीं तो और भी सिरपर चढ़ी चली आ रही है, हमें स्वीकार करना ही चाहिये कि अिसके मूलमें है अंग्रेजीकी साहित्यिक-शक्ति।

अुस दिन बात चलनेपर 'अंग्रेजी' की अेकदम अे. बी. सी. डी. जाननेवाले अेक भाअीने कहा, 'अंग्रेजी जान लेनेसे सब कुछ जाना जा सकता है।'

अंग्रेजीकी राजनीतिक-स्थितिकी यदि अुपेक्षा कर भी दें तो भी अंग्रेजी और अंग्रेजी-साहित्यके बारेमें जो यह सामान्य धारणा बनी हुअी है, जिससे अभिभूत होकर ख्वाहमख्वाह आदमी अुधर लुढ़क जाता है, अुसका लेखा-जोखा तो लेना ही होगा। अपनी अभ्यस्त शैलीमें कहूँ तो अुस धारणासे तो लोहा लेना ही होगा।

प्रश्न है कि अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी-साहित्यकी अिस धाकके मूलमें क्या है? आप कहेंगे अंग्रेजी साम्राज्यके डेढ़ सौ साल। अुत्तर सही है, किन्तु अधूरा है। क्योंकि प्रश्न फिर पैदा होता है कि अंग्रेजी-साम्राज्यके मूलमें क्या रहा है? स्वीकार करना ही होगा कि अंग्रेजोंका अपना चरित्र। मेरा निवेदन है कि अंग्रेजी-साहित्यका भी मूलाधार वह अंग्रेजी चरित्र ही है, जिसे हम अंग्रेजी-साम्राज्यका मूलकारण मानते हैं।

प्रतिकूल परिस्थितियोंमें हिन्दी-सेवियोंने भी हिन्दीकी जैसी सेवा की है, वह किसी भी साहित्यके साहित्यिकोंके लिअे अभिमान करनेकी चीज है। किन्तु अुधरकी अनुकूलता तो जैसे प्रतिकूलता ही बन गयी है।

कवि अंचलकी अेक पंक्ति याद आती है--

'फूल काँटोंमें खिला था, सेजपर कुम्हला गया'

केन्द्रसे और कअी राज्य सरकारोंसे राष्ट्रभाषा तथा राज्य-भाषा हिन्दीके सम्बन्धमें जो घोषणाअें निकलती हैं, अुन्हें पढ़कर तबीयत प्रसन्न हो जाती है। काश! हम सबकी वह आँखें ही फूट जाअें जो अुन्हें कार्यान्वित हुआ देखनेकी भी अिच्छा रखती हैं!

स्वराज्यके छह साल बीत गये। आज भी केन्द्रीय सरकारके हर अेक मन्त्रालयका लगभग सारा कारोबार अंग्रेजीमें ही होता है। अभी और नौ वर्षोंके बाद तो अुसमें धीरे-धीरे परिवर्तन होना आरम्भ होगा! तबतक न जाने किस राजाका राज्य होगा!

केन्द्रीय सरकारकी बात जाने दो। वहाँ बड़े-बड़े लोगोंकी बड़ी-बड़ी बातें हैं। क्या आज भी अुन राज्योंकी जो अपनी राज्य-भाषा हिन्दी घोषित कर चुके हैं--सरकारोंमेंसे कोअी अेक भी सरकार यह कह सकती है कि अंग्रेजी ज्ञानसे सर्वथा शून्य कोअी व्यक्ति अुसके किसी भी महत्वपूर्ण पदको सुशोभित कर सकता है?

कमेटियोंपर कमेटियाँ बनी हैं और बिगड़ी हैं। क्या आज भी हम हिन्दीके किसी अेक भी टाअिपराअिटरके बारेमें कह सकते हैं कि यह हिन्दीका टाअिपराअिटर है?

हिन्दी टैलिप्रिन्टरोंकी भी चर्चा बीच-बीचमें होती है। क्या आज भी हिन्दी टैलिप्रिंटरके अभावमें हिन्दीसे अंग्रेजीमें और पुनः अंग्रेजीसे हिन्दीमें अनुवाद होनेके बाद ही दिल्लीकी किसी प्रेस अेजेंसी द्वारा भेजा गया हिन्दी समाचार भी हिन्दी-पत्रोंमें नहीं छपता?

यह सब यूँ चल रहा है और 'दिल्लीके देवता' बीच-बीचमें अुपदेश दे देते हैं कि राष्ट्रभाषाके प्रचार कार्यमें जल्दबाजीसे काम नहीं लेना चाहिये।

प्रान्तीय भाषाओंको आगे खड़ा करके अुनकी ओटमें अंग्रेजीके निहित-स्वार्थोंको सुरक्षित रखनेका अच्छा ढंग निकल आया है!

सरकारके पास--अुसके शिक्षा-विभागके पास--योजनाअें हैं, सूचनाअें हैं। कोअी अेक भी कार्यान्वित हो पाये तब न?

गैर-सरकारी साहित्यिक संस्थाओंके पास भी योजनाअें हैं, किन्तु साधन नहीं। किसी भी शहरकी अेक सड़ी-सी दूकानके पास जितनी पूँजी होती है, अुतनी भी पूँजी हमारे बड़े-बड़े प्रान्तीय साहित्यिक अनुष्ठानोंके पास नहीं दिखायी देती।

जिस मध्य-प्रदेशकी राजधानी नागपुरमें राष्ट्रभाषा प्रचार-सम्मेलनका पाँचवाँ अधिवेशन होने जा रहा है, वहींके मध्य-प्रदेश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी पाँचवीं मासिक विज्ञप्ति मेरे सामने है-- कुल जमा छह पन्नेकी।

अिसी विज्ञप्तिमें सम्मेलनके प्रधान मन्त्री श्री रामगोपालजी महेश्वरीका वक्तव्य पढ़नेको मिला--

"यद्यपि **अर्थाभावके कारण** बीचके दो महीनोंमें विज्ञप्ति प्रकाशित नहीं की जा सकी, तथापि यह सिल-सिला बनाये रखनेका प्रयत्न किया जा रहा है।"

यह है हमारे अेक प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी पूँजी !

आप यदि साहित्यकार हैं और आपकी अपनी कोअी साहित्यिक-कृति है अथवा आपके किसी मित्रके ही पास कोअी साहित्यिक रचना है तो आज आपको अुसे प्रकाशित करने-करानेमें काफी कठिनाअीका सामना करना पड़ेगा। कोअी व्यवसायिक पूँजी-पति प्रकाशक अुसे अिसलिअे नहीं प्रकाशित करना चाहता, क्योंकि अुसे अपनी पूँजीके ही डूब जानेका डर लगा रहता है; और कोअी साहित्यिक संस्था अिसलिअे नहीं प्रकाशित कर सकती, क्योंकि अुसके पास पैसा नहीं।

साहित्यिक सौष्ठवकी दृष्टिसे जो कृति जितनी ही अधिक श्रेष्ठ है, आज दिन अुसके प्रकाशित करनेमें अुतनी ही कठिनाअी है।

प्रश्न गम्भीर है। अिस चक्र-व्यूहको कहाँसे और कैसे तोड़ा जाअे। हिन्दीको सचमुच कुछ साहित्यिक अभिमन्युओंकी आवश्यकता है।

मेरी विनम्र सम्मतिमें हिन्दी-साहित्यकी प्रगतिके जिस सन्धि-स्थलपर आकर हम खड़े-से हो गये हैं, अुसका अेक कारण यह भी है कि समाजका अपेक्षाकृत सम्पन्न वर्ग न हिन्दी पढ़ता है, न लिखता है और बद-बख्त खरीदता तक नहीं। अिस वर्गके दो हिस्से किये जा सकते हैं—

(१) धनवान किन्तु ज्ञान-शून्य

(२) ज्ञान-वान किन्तु विवेक-शून्य।

पहला वर्ग जितने पैसे पान-सिगरेटपर ही खर्च करता है, अुससे आधे पैसे भी यदि हिन्दी समाचार-पत्र खरीदकर पढ़नेमें खर्च करने लगे तो हर हिन्दी-समाचार-पत्रकी ग्राहक-संख्या लाखोंमें गिनी जाने लगे। आठ-करोड़की आबादीके जापानका 'असाही' पचास लाख प्रतियाँ रोज छापता है। चालीस करोड़ लोगोंके राष्ट्रकी राष्ट्रभाषाका कौन-सा अेक दैनिक है जो अेक लाखकी भी बात कर सके !

दूसरा वर्ग ज्ञान-वान् किन्तु सचमुच अत्यन्त विवेक-शून्य है। अुसीकी कृपासे कलकत्ते (और दूसरे शहरोंमें भी होगा) में अेक विशेष तरहका साहित्य रस-गुल्लोंकी तरह खरीदा जाता है, पढ़ा जाता है पढ़ाया जाता है। शीशोंमें आदमी अपना चेहरा देखना ही तो अधिक पसन्द करता है। अुन लोगोंके जीवनमें जो कुछ है और जितने अधिक विकृत रूपमें है, अुसे जब वे साहित्यमें भी देख पाते हैं तो अैसा साहित्य यदि अुन्हें अच्छा भी लगता है तो अिसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है !

गजब यह है कि कहीं-कहीं तो अैसा साहित्य पुस्तकालयोंकी सदस्य-संख्या बढ़ानेके लिअे खास तौरपर रखा जाता है।

पैसेके साथ-साथ जबतक अैसे भयानक अविवेकका गठबंधन बना रहेगा तबतक अुससे लाभ अुठानेवाले 'साहित्यिक-ठग' भी प्रचुर मात्रामें रहेंगे ही। बुद्धिमान लोग बेवकूफ कहलानेकी अपेक्षा ठग कहलाना अधिक पसन्द करते हैं, किन्तु अुन्हें 'ठग' बनानेवाले बेवकूफ लोग ही तो हैं।

निस्सन्देह सभी भाषाओंमें सभी तरहका साहित्य है। किन्तु, जो साहित्य जिस कोटिका है वह अुस कोटिका ही समझा जाकर अपनी हैसियतसे अूँचा दर्जा तो न पाये।

आजके हिन्दी सेवीको कुछ अैसी ही रुंधी, बंधी हुअी स्थिति और परिस्थितिमेंसे गुजरना है। अिसमें तनिक सन्देह नहीं कि अुसका और अुसकी साहित्य-साधनाका भविष्य अुज्वल है, किन्तु चमकनेके लिअे अुसे शायद अभी भी काफी तपना है।

अपने अुन मसिजीवी बन्धुओंसे तो क्या कहा जाअे, जिनके पास पढ़नेके लिअे अपेक्षित पुस्तकें नहीं, अुन्हें खरीदनेके लिअे यथेष्ट पैसा नहीं और जिनकी आप लिखी हुअी पुस्तकें छापनेको कोअी प्रकाशक तैयार नहीं। "राष्ट्रभारती"के सौभाग्यसे वे तो आगे ही अितनी

तपस्या कर रहे हैं कि कुछ न पूछो । अैसे बन्धुओंके सम्मुख तो वह सारा समाज अुत्तरदायी है, जिसकी अव्यवस्थाके परिणामस्वरूप हीरे कोयलोंके भाव बिकते हैं।

किन्तु साराका सारा साक्षर समाज अैसा ही नहीं है। निस्सन्देह देश दरिद्र है। किन्तु देशकी दरिद्रताके हिसाबसे देखा जाअे तो अिस देशके बहुतसे धनी बहुत-धनी हैं । अैसे समर्थ साक्षर लोगोंकी कअी श्रेणियाँ हैं।

आर्थिक-दृष्टिसे विचार करनेपर हमारा ध्यान सबसे पहले देशके कालेजोंके कुछ प्रोफेसरोंकी ओर जाता है। अुनमेंसे अेक वर्ग तो प्रोफेसर बननेके साथ ही जैसे लिखना-पढ़ना बन्द कर देता है। अुनके पास हर साल 'नये वर्षके नये मूर्ख' आते ही रहते हैं। पढ़ने-लिखनेकी क्या जरूरत ।

अिन्हीं बन्धुओंका अेक दूसरा वर्ग है जो अपना अधिकांश समय पाठ्य-पुस्तकें लिखने, छपवाने, प्रकाशित करानेमें ही खर्च करता है। यही अुसका बंधा-बंधाया पेशा है। अिनमें कोअी-कोअी तो स्वयं पुस्तकें लिखते तक नहीं। 'लड़े सिपाही नाम सरदारका' होता है। पुस्तकें किसी विद्यार्थीसे लिखायी जाती हैं— कुछ मेहनताना दे दिला दिया जाता है। किन्तु विज्ञापित नामकी पूरी कीमत जिसके भरोसे पुस्तक परीक्षा-विशेषके पाठ्य-क्रममें आती है— प्रोफेसर महोदयको मिलती है।

साहित्यके क्षेत्रमें जहाँ दिन-रात यूँ ही सफेदको काला किया जाता है, यह अेक अैसा भयानक ब्लैक-मार्केट है, जिसकी सीमा नहीं !

अिन्हीं समर्थ बन्धुओंसे अनुरोध है कि आपपर कोअी भी दूसरा किसी प्रकारका अंकुश नहीं लगा सकता। अपनेपर रहम करें, अपने विद्यार्थियोंपर रहम करें और अपने साहित्यपर रहम करें और कुछ अैसा करें जिसे लेकर हर हिन्दी-प्रचारक, हर हिन्दी शिक्षक कुछ आगे बढ़ सके।

पढ़ाने-लिखानेके पेशेसे बाहर भी पढे-लिखे लोगोंकी कमी नहीं। हमारे समाजका यही अेक बड़ा दुर्भाग्य है कि जो पढ़ाने-लिखानेके पेशेमें नहीं वे कुछ कहने-सुनने लायक पढ़ते-लिखते ही नहीं।

अेक दिन अेक मित्र जापानी टैक्सीमें बैठकर किसीसे मिलने गये। आप भीतर चले गये। टैक्सी बाहर खड़ी रही। लौटकर देखा तो ड्राअिवर भारतीय भवन-निर्माण-कलापर पुस्तक पढ़ रहा था।

यूं यह देश संत 'कबीर'का देश है, जिस जुलाहेके व्यक्तित्वमें अपनी जीविकाके साधन और अध्यात्मकी अूँचीसे अूँची साधनाका सुन्दर समन्वय हुआ था, किन्तु तब भी हमारा आजका कारोबारी व्यवसायी न जाने क्यों 'कल्याण' खरीदकर रखभर देनेसे आगे नहीं बढ़ पाता ?

हमारे योग्य व्यवसायपति चाहें तो अपने ज्ञान और हिन्दी-साहित्यकी वृद्धि अेक साथ कर सकते हैं। किन्तु समाजमें अुनके विषयमें कुछ अैसी निकृष्ट धारणा बन गयी है कि वे कुछ लिखें-पढ़ें भी तो कोअी विश्वास ही नहीं करता कि अुनका अपना लिखा-पढ़ा होगा ? यह सही भी है कि कभी-कभी होता भी नहीं। बिचारे धन कमाअें या ज्ञान ? लेकिन वह युग गया जब लक्ष्मीके वाहनका अुल्लू होना अनिवार्य माना जाता था। आज भी यदि वह अुल्लू ही बना रहेगा तो अपने साथ अपने समाज और अपने देशको भी ले डूबेगा।

तीसरा वर्ग है अुन साक्षर लोगोंका जिनका न तो पढ़ना-लिखना पेशा ही है और न वे व्यवसायी ही हैं। भाग्यसे अुन्हें सभी सुविधाअें प्राप्त हैं। साधन-सम्पन्न हैं। अिस वर्गके लोग भी अपने देशमें यथोचित मात्रामें सरस्वती-आराधन नहीं ही करते। बंधी-बंधाअी नौकरी, नियमित मासिक आय, नियत निश्चित-काम और मौज। सरस्वतीके चरणोंमें श्रद्धाके दो फूल चढ़ानेमें क्या कम चैतसिक आनन्द है ? जिसने अिस रसको चखा हो, अुससे पूछो। वह बताअेगा—

'हाय कमबख्त। तूने पी ही नहीं।'

आप कल्पना कीजिये किसी देशके गवरनरकी और कल्पना कीजिये अुसके पालि पढ़नेकी और कल्पना कीजिये अुसके पालिग्रन्थोंके सम्पादन और अनुवाद-कार्यकी।

श्री चामर्स सिंहल (सिलोन) के अैसे ही गवरनर थे !

'पालि-अंग्रेजी-कोश' के रचयिता और 'बुद्धिस्ट-अिण्डिया' के प्रसिद्ध लेखक श्री रीज रेविडस सिलोन सिविल-सर्विसके अेक योग्य पदाधिकारी ही थे।

अपने ही देशमें तीस वर्षतक पुराणोंका अध्ययन करके 'भारतीय अैतिहासिक परम्परा' को वैज्ञानिक अितिहासकी भित्तिपर ला खड़ा करनेवाले श्री डब्ल्यू. टी. पार्जिटर कलकत्तेके अेक बड़े न्यायाधीश ही तो थे।

हमारे अुच्च पदस्थ अधिकारी भी यदि चाहें तो क्या किसी न किसी शाखा-विशेषका अध्ययन करके 'राष्ट्रभारती' के चरणोंमें अनेक अमूल्य रत्न समर्पित नहीं कर सकते ?

यहाँ कालिम्पोङमें प्रायः रोज ही अेक साठ वर्षीय महिलासे भेंट होती है, जो यूरोपकी कअी भाषाअें मातृभाषावत् बोलती हैं और अिस समय चीनी, तिब्बती और संस्कृतके अूँचे साहित्यिक ग्रन्थोंका तुलनात्मक अध्ययन कर रही हैं। अुस दिन अुन्हें अेक चीनी-कोश मिल गया। वे अैसी प्रसन्न दिखायी दीं, जैसे कोअी बालक कटी पतंग मिल जानेपर।

मध्यप्रदेशके भूतपूर्व गृह-मंत्री पं. द्वारकाप्रसाद मिश्रने अपने अवकाशके समयमें 'कृष्णायन'की रचना कर निस्सन्देह सब लोगोंका मार्ग-दर्शन किया। जो अिससे कुछ भी प्रेरणा लेना चाहते हों ले सकते हैं।

गोसाअीं तुलसीदासकी अेक चौपाअीके प्रचलित अर्थसे मैं किसी भी तरह सहमत नहीं हो पाया। गोसाअींजी कहते हैं—

"कीन्हे प्राकृत जन गुण-गाना
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना"

[साधारण जनोंका गुणगान करनेसे सरस्वती अपना सर धुन पछताने लग जाती हैं।]

मेरा निवेदन है कि सरस्वतीका वरद-पुत्र जब और जिसके बारेमें भी लेखनी अुठाता है, वह साधारण जन रह ही नहीं जाता।

साधारणको असाधारण बनाना ही सरस्वती-पुत्रोंकी विशेषता है।

पर्लबर्कका 'गुड-अर्थ' अेक चीनी किसानकी कथा-मात्र ही तो है, किन्तु 'माटीका प्रेम' काहेको कहीं अन्यत्र अैसी तीव्रताके साथ अभिव्यक्त हुआ होगा ?

हिन्दीमें क्या कुछ है, अिसकी सूची भी बहुत लम्बी है, क्या कुछ नहीं है, अुसकी सूची और भी लम्बी है। अुस लम्बी सूचीको पूरा करनेके लिअे लेखकों, प्रकाशकों, पुस्तकविक्रेताओं सभीके सम्मिलित सहयोगी प्रयत्नोंकी आवश्यकता है।

और आवश्यकता है लक्ष्मी-पुत्रोंके आगे आनेकी।

साहित्यकारोंने अिस युगको न जाने हिन्दीका कौनसा युग माना है। मुझे लगता है कि यह हिन्दीका संस्था-युग है। संस्थाअें किसी न किसी अूँचे अुद्देश्यको लेकर दो डग भी आगे नहीं चल पातीं कि अुद्देश्य पीछे पड़ जाता है और पद तथा विचार आगे आकर खड़े हो जाते हैं।

प्रेमचन्द हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापति न हुअे, न सही। वे हिन्दीके अुपन्यास-सम्राट कहला गये।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी कहींके सभापति न बने, न सही, वे हिन्दी-गद्य-लेखकोंको बना गये।

साहित्यिकको संस्थाका सहयोग मिल जाअे, सोनेमें सुहागा है। अन्यथा कोअी भी संस्था किसी न किसी की छाया-मात्र ही तो होती है।

सरस्वतीके वरद-पुत्रोंको ही प्रणाम है।

कुमार दुरंजय

: श्री राहुल सांकृत्यायन :

दुनियाके बहुतसे भागोंमें सामन्तवादको खतम हुअे बहुत समय बीत गया। लेकिन भारतमें अुसे अंग्रेजोंने बहुत पाल-पोसके रखा था। भारतकी स्वतन्त्रताके बाद अुसका टिकना सम्भव नहीं था, जब कि असली राजशक्ति अंग्रेज थैलीशाहोंके हाथसे निकल करके भारतीय थैलीशाहोंके हाथमें आ गयी। भारतके सबसे बड़े थैलीशाह जिस राजस्थानसे आते थे, वहाँ अपनी प्रजापर निरंकुश शासन करनेके लिअे अंग्रेजोंने राजाओंको छोड़ रखा था। पूजा-भेंटके सहारे अपना कुछ काम थैलीशाह जरूर बना लेते थे; लेकिन आखिर वहाँ कानून नहीं बल्कि अेक आदमीका मनमाना राज्य था। कमसे कम पूंजी लगाकर कारखाना खोलनेके लिअे तो कोअी सेठ तैयार नहीं था, अिसलिअे भारतके वास्तविक शासक भारतीय थैलीशाहोंकी आंखोंमें ये निरंकुश गुड़िया-राजा काँटेकी तरह खटकते थे। लेकिन, जब तक अंग्रेज यहां थे तबतक ही नहीं, बल्कि अुनके चले जानेके बाद भी थैलीशाहोंमें अितनी शक्ति नहीं थी कि केवल अपने बलपर अिन काँटोंको रास्तेसे दूर फेंक सकते। अिसके लिअे अुनको चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि अंग्रेजोंके शासनके समय ही देशी राज्योंकी प्रजाने अनेक बार गोलियाँ खायीं, तो भी अपने संघर्षको नहीं छोड़ा। अुन्हींके डरके मारे अंतमें राजाओंको अपनी निरंकुशता नहीं, बल्कि अधिकारको भी छोड़ना पड़ा। अब वह सरकारके पेन्शनर भर रह गये, जिनमें गरीब प्रजाकी कमाअीपर फलाहार खूब किया जा रहा है। सैकड़ों वर्षों पुरानी रियासतोंको यद्यपि मृत्युकी पीड़ा झेलनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी, अुनका हार्ट फेल कर गया, लेकिन शान्तिपूर्ण लूट खूब हुअी। कहीं होशियार राजा हुअे, तो अुन्होंने अपने निजी जेवर और पैसेको ही नहीं, बल्कि रियासती खजानेको भी झाड़-बुहारकर साफ कर दिया, बेकारकी अिमारतोंको छोड़कर बाकी सभी अिमारतोंको निजी सम्पत्ति बना लिया। और जहाँ नाबालिग या मूर्ख राजा हुअे, वहां चार्ज लेनेवालोंने "लूट सके सो लूट" का नारा लगाकर छीछड़े भर छोड़ दिये। कितनी ही जगहोंमें तो अिन नये स्वामियोंने अपने जुर्मका कोअी पता न रहने देनेके लिअे सैकड़ों वर्ष पुराने कागजोंकी होली खेली--अिस होलीमें कितने ही अैतिहासिक महत्त्वके दस्तावेज सर्वदाके लिअे नष्ट हो गये। चलते-पुर्जे राजाओंने या अपने नमकहलाल नौकरोंकी सहायतासे साधारण अन्नदाताओंने भी राज्यकी अधिकसे अधिक सम्पत्ति अपने हाथमें करनी चाही। कितनोंने हजारों अेकड़ अच्छे खेतोंके अपने फार्म बना लिये और ट्रेक्टर मंगाकर अुनमें खेती भी करनी शुरू कर दी। सरकार तो किसानोंके हकका वहीं ख्याल करती है, जहाँ अुसे अुसके लिअे मजबूर होना पड़ता है।

कुमार दुरंजय अिसी तरहके अेक रियासती कुमार थे। अुनके पिता--भगवान् भला करे, १९४७ की आंधी देखनेके लिअे रह नहीं गये, नहीं तो रियासतके साथ अुनका भी हार्ट फेल हो जाता--भारतके सबसे बड़े निरंकुश तानाशाह थे, जिनकी कीर्ति-सुगन्ध दूर-तक फैली हुअी थी, भलेही जुकामके मारे अंग्रेज प्रभुओंकी नाकतक वह नहीं पहुँचती थी। अुन्होंने खून करवाये, देशमें वावेला भी मचा, लेकिन अंग्रेज तो अपने अैसे अनन्य भक्तोंके सात नहीं साठ खून माफ करनेवाले थे। काफी बड़ी रियासत होनेपर भी महाराजका खर्च अुतनेसे नहीं चलता था और वह सेठोंसे कर्जा लेते रहते थे। अपने हरममें नयी सुंदरियोंके डालनेका तो अुन्हें मर्ज-सा था। जब पहाड़ोंमें अुनकी सवारी आती, तो अखबारों और शहरोंसे बहुत दूर पिछड़े युगमें रहनेवाले भोले-भाले पहाड़ियोंमें भी आतंक छा जाता : बहू-बेटियोंकी हिफाजत करो,.....वाला राजा आया है। लेकिन अिस तरह बहू-बेटियोंकी रक्षा होनेवाली नहीं थी। राजा